International Journal of Multidisciplinary Trends

E-ISSN: 2709-9369
P-ISSN: 2709-9350
www.multisubjectjournal.com
IJMT 2021; 3(1): 18-21
Received: 09-11-2020
Accepted: 12-12-2020

विश्वासी एक्का
महारानी लक्ष्मीबाई, वार्ड क्रमांक -09 पटेलपारा, अम्बिकापुर, सरगुजा, छत्तीसगढ़, भारत

Corresponding Author:
विश्वासी एक्का
महारानी लक्ष्मीबाई, वार्ड क्रमांक -09 पटेलपारा, अम्बिकापुर, सरगुजा, छत्तीसगढ़, भारत

पारंपरिक मोठिया वस्त्रों की बुनाई एवं सांस्कृतिक महत्व: सरगुजा जिले के विशेष संदर्भ में

विश्वासी एक्का

संक्षेप:
स्वाधीनता आंदोलन के समय महात्मा गांधी जी ने स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर जोर दिया, देशवासियों को खादी पहनने को प्रेरित किया अतः घर-घर चरखा चलने लगा, लोगों में स्वावलम्न की चेतना का विकास हुआ और कुटीर उद्योग चलने लगे | मोठिया साड़ी में लाल रंग के धागे से पाड़ या किनारा और आँचल को कलात्मक बनाया जाता है, इस साड़ी की लम्बाई बारह और चौदह हाथ होती है, पहले महिलाएं बंडी की जगह साड़ी को ही लपेटती थीं इसलिए साड़ी लंबी ही बुनी जाती थी, इसे 'चौदहा' कहा जाता था | पहले ग्रामीण क्षेत्रों में हथकरघे से बने वस्त्रों का ही चलन था, वहां खेत-खलिहान, जंगल और नदियों तक उनके काम बिखरे होते थे, उन कामों को करते हुए ये मोटे वस्त्र गर्मी हो या बरसात उन्हें सहूलियत ही देते थे | महिलाएं उन मोठिया साड़ियों को एड़ी तक नहीं, घुटने तक ही लपेटती थीं और आंचल का हिस्सा शरीर के ऊपरी हिस्से को ढंकता था | खेतों में काम करना हो, नदी या तालाब से मछलियाँ पकड़ना हो या तो जंगल से लकड़ियां, फल-फूल, कंदमूल एकत्र करना हो, घुटने तक पहनी गई साड़ी से उन्हें बड़ी सहूलियत होती थी |

कूट शब्द: मोठिया वस्त्रों की बुनाई, सांस्कृतिक महत्व, महात्मा गांधी जी

प्रस्तावना
सरगुजा, प्रचीन छोटा नागपुर का महत्वपूर्ण अंचल है, यह ग्रामीण और आदिवासी बहुल क्षेत्र लोककला और संस्कृति संपन्न रहा है, चाहे नृत्य हो, गीत हो, वेशभूषा हो आज भी यहां इन रूपों में लोकसंस्कृति बची हुई है| वन संपदा और खनिज संपदा से समृद्ध होते हुए भी यहां के मूल निवासी निर्धनता का जीवन जीते रहे हैं| आजादी के पूर्व तक यहां के स्त्री -पुरुष हथकरघे से बने मोटे वस्त्र धारण करते थे, स्त्रियां घुटने के ऊपर तक जो साड़ी पहनती थीं उसे 'मोठिया' साड़ी कहा जाता था| स्त्रीयोचित आभूषणप्रियता उन्हें सिहार के पत्तों को गोल -गोल लपेटकर कानों में 'ठोसा', साही के काँटों के कर्णफूल तो हाथों में एल्यूमीनियम की सस्ती चूड़ियां और गले में कौड़ियों या तो घुंघची की माला धारण करने को प्रेरित करती थी| पुरुष हथकरघे से बुनी मोटी धोती घुटने के ऊपर तक पहनते थे,बच्चे लगभग अर्धवस्त्रों में ही रहते थे|

आदिवासी बहुल इस क्षेत्र के लोगों के जीविकोपार्जन का साधन आखेट और कृषि रहा है| परम्परागत कृषि में धान, दलहन और तिलहन के साथ कपास की खेती की जाती थी बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मोटे अनाज और जंगल थे जो उन्हें कंदमूल, वनस्पतियां, जड़ी बूटी और अन्य खाद्य सामग्री उपलब्ध कराते थे,

सिर छुपाने के लिए फूस की झोपड़ी या मिट्टी के घर होते थे, कपड़ों की आपूर्ति का साधन कपास थे जिनसे मोटे वस्त्र तैयार किये जाते थे|

स्वाधीनता आंदोलन के समय महात्मा गांधी जी ने स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर जोर दिया, देशवासियों को खादी पहनने को प्रेरित किया अतः घर-घर चरखा चलने लगा, लोगों में स्वावलम्न की चेतना का विकास हुआ और कुटीर उद्योग चलने लगे| मोटे वस्त्र बनाने की प्रक्रिया में पहले कपास से बीजों को अलग किया जाता था, फिर रुई की धुनाई होती थी, फिर सूत कातना, तत्पश्चात धागे की रंगाई और फिर बुनाई की जाती| देशी रंग, हर्रा, बहेरा, राम रेंड़ी आदि को पीसकर धागों में लपेटकर कीचड़ में चार-पांच दिनों तक गाड़ दिया जाता था इससे रंग पक्का हो जाता था अब धागा रंगने के लिए केमिकल युक्त रंगों का प्रयोग होने लगा है| बुनाई का काम पहले जाति विशेष के लोग करते थे, एक तरह से यह जातिगत व्यवसाय हुआ करता था, अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग जातियों के लोग यह कार्य करते थे| झारखंड में चीक, बड़ाइक, जशपुर क्षेत्र में जोलहा तो सरगुजा में पनिका और चिकवा (गांड़ा) जाति के लोग बुनाई कर लोगों को मोटे वस्त्रों का आपूर्ति करते थे| अब दूसरी जातियों के लोग भी बुनाई का काम कर रहे हैं, शासन की ओर से भी इस लोक संस्कृति और परम्परा के बचाये रखने और ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार की उपलब्धता के लिए समिति गठित कर बुनाई का काम कराया जा रहा है, जहां स्त्री -पुरुष दोनों मिलकर कपड़ा बुनने का काम करते हैं, सहकारी बुनकर समिति सलईनगर, सरगुजा (छ. ग.) के अध्यक्ष श्री लक्ष्मणदास महंत ने बताया कि एक साड़ी की बुनाई के एवज में दो हजार रुपये पारिश्रमिक दिया जाता है| सरगुजा में सलईनगर के अलावा डांगबुड़ा, भुसू, सुखरापारा, जामडीह,पंडरीपानी,कोट,सूर में बुनकर, इस पारंपरिक कला से जुड़े हुए हैं| जामडीह के बुनकर श्री गुलाबदास कहते हैं कि अब मोठिया कपड़े की बुनाई का काम मंद पड़ गया है, मुनाफा कम होने और बाजार में तरह-तरह के कपड़ों की उपलब्धता ने इस कार्य को प्रभावित किया है लेकिन पुरखों के इस काम को गुलाबदास कम मुनाफा होने के बावजूद छोड़ना नहीं चाहते|

मोठिया साड़ी में लाल रंग के धागे से पाड़ या किनारा और आँचल को कलात्मक बनाया जाता है, इस साड़ी की लम्बाई बारह और चौदह हाथ होती है, पहले महिलाएं बंडी की जगह साड़ी को ही लपेटती थीं इसलिए साड़ी लंबी ही बुनी जाती थी, इसे 'चौदहा' कहा जाता था| पुरुष लंबे गमछे को घुटनों तक लपेटते थे, छोटे बच्चों को महिलाएं इसी से बेतरा अर्थात् पीठ पर बांध कर काम करती थीं, वह पगड़ी बांधने के भी काम आता था, बुजुर्ग और बच्चे लंगोट पहनते थे तो छोटी लडकियां मोटहा कपड़े का फरिया पहनती थीं, ओढ़ने के लिए बारह हाथ लम्बा चादर होता था जिसे 'बरका'/बरकी' कहा जाता था, इस प्रकार ग्रामीण जनजीवन में हथकरघे से बने वस्त्रों का बहुत महत्व था, ये मोटे वस्त्र कपास से बने होने के कारण ठंड में शरीर को गर्म रखते थे, वहीं गर्मी में शरीर को ठंडक देते थे, आज भी सूती कपड़े का इसीलिए सर्वाधिक प्रयोग होता है| लोकजीवन में इन मोठिया वस्त्रों का बड़ा महत्व था, उराँव आदिवासी स्त्रियों द्वारा पहनी जाने वाली इस साड़ी को लेकर ही संभव है यह उक्ति प्रचलित थी - "उरईन छोंड़ी धमा गोड़"| बदलते समय के साथ लोगों की पसंद भी बदलती है, नये जमाने में लड़कियां, मोठिया साड़ी की जगह महीन साड़ी पहनना पसंद करती हैं क्योंकि वे भारी साड़ी संभाल नहीं पातीं,इस भाव और साड़ी का चित्रण, उराँव आदिवासियों के रिंजा करम गीत में मिलता है - "हो! होहोरे! रेलगाड़ी बरा लागी / बारह हाथ किचिरिन कुरि-अन दो,पोजेरएन दो,बोंगा पोल्लेन,चोंगा पोल्लेन, रेलगाड़ी बरा लागी .....|

पहले घर-घर में कपास की खेती करने और चरखा चलाने का चलन था ताकि धागे तैयार कर बुनकरों को उपलब्ध कराया जा सके| 18 वीं सदी में औद्योगिक क्रांति के बाद मांग की अपेक्षा पूर्ति सस्ती और सुलभ हुई, बाजार में, वस्त्रों की कई किस्में आ गईं इससे हथकरघा उद्योग प्रभावित हुआ साथ ही सामाजिक संबंधों में भी बदलाव आये, इन सबके बावजूद सूती कपड़ों का अपना एक अलग ही महत्व था,चाहे वह मिल में बना हो या हथकरघे में| हथकरघे से बने मोठिया वस्त्रों का इस मायने में भी अलग महत्व था कि उन्हें धोने के लिए डिटर्जेंट या साबुन की आवश्यकता नहीं होती थी, बल्कि महीन राख मिले

पानी में उन्हें उबाला जाता था और पत्थर पर पटक-पटक कर धोया जाता था,धुलने के बाद कपड़ों की चमक और बढ़ जाती थी,साल की लकड़ी की राख इन कपड़ों की धुलाई के लिए ज्यादा अच्छी मानी जाती थी|

पहले ग्रामीण क्षेत्रों में हथकरघे से बने वस्त्रों का ही चलन था, वहां खेत-खलिहान, जंगल और नदियों तक उनके काम बिखरे होते थे, उन कामों को करते हुए ये मोटे वस्त्र गर्मी हो या बरसात उन्हें सहूलियत ही देते थे| महिलाएं उन मोठिया साड़ियों को एड़ी तक नहीं, घुटने तक ही लपेटती थीं और आंचल का हिस्सा शरीर के ऊपरी हिस्से को ढंकता था| खेतों में काम करना हो, नदी या तालाब से मछलियाँ पकड़ना हो या तो जंगल से लकड़ियां, फल-फूल, कंदमूल एकत्र करना हो, घुटने तक पहनी गई साड़ी से उन्हें बड़ी सहूलियत होती थी| नदी या तालाब में कम पानी वाले जगह पर काम करने में साड़ी नहीं भीगती थी, या खेतों में रोपा रोपते समय भी साड़ी मिट्टी से ख़राब नहीं होती थी, घुटनों तक पहनी गई साड़ी, जंगल में लताओं और वृक्षों में नहीं उलझती थी और जंगली जानवरों से बचाव के लिए दौड़ने में उन्हें असुविधा नहीं होती थी| रोपा रोपने, निंदाई-गुड़ाई या धान काटने का काम सामान्यतः सूरज की ओर पीठ करके किया जाता था उस समय कमर के ऊपर अधखुले हिस्से, गर्दन और पीठ पर सूर्य की किरणों द्वारा अनजाने ही विटामिन डी की पूर्ति हो जाती थी|

पहले ग्रामीण क्षेत्रों के सभी स्त्री -पुरुष इन मोटे वस्त्रों को पहनते थे लेकिन कालान्तर में ये मोठिया वस्त्र, साड़ी, गमछे के रूप में छत्तीसगढ़, झारखंड, उड़ीसा, असम, पश्चिम बंगाल में बसे उराँव आदिवासियों तक ही सिमट कर रह गये, दूसरी जातियों में इसका प्रयोग नहीं के बराबर है| उराँव आदिवासी चाहे वे प्रकृतिपूजक हों, हिंदू हों या ईसाई तीनों ही अपने-अपने ढंग से 'करम पर्व' मनाते हैं,इस अवसर पर स्त्रियां अपने पारंपरिक परिधान के रूप में मोठिया साड़ी ही पहनती हैं और पुरुष मोठिया गमछे की पगड़ी बांधते हैं| इस आदिवासी समुदाय में आज भी विवाह में वर पक्ष की ओर से वधु पक्ष को 'मयसारी लुगा' के नाम पर इसी मोठिया साड़ी का उपहार देने का प्रचलन है, इस प्रकार किसी न किसी रूप में प्रत्येक परिवार में ये पारंपरिक वस्त्र होते ही हैं, वे इस वस्त्र को अपनी सांस्कृतिक पहचान के रूप में अपने घर में रखना पसंद करते हैं|

आधुनिकता की चकाचौंध में सांस्कृतिक क्षरण हुआ है लेकिन कुछ जागरुक लोग अपने अस्तित्व पर मंडराते खतरे को भांप कर अपनी संस्कृति को बचाये रखने हेतु प्रयासरत दिखाई दे रहे हैं लेकिन समय के साथ पारंपरिकता के साथ आधुनिकता का सम्मिश्रण भी हुआ है, यह ठीक ही है क्योंकि किसी भी जीवंत संस्कृति के लिए पारंपरिक और आधुनिकता दोनों का समन्वय आवश्यक है| अब पारंपरिक मोठिया साड़ी की बुनाई में थोड़ा बदलाव आया है, अब लाल - कत्थई रंगों के अलावा नीले, हरे रंग के धागों का भी प्रयोग होने लगा है, साड़ी और गमछे पहले की अपेक्षा पतले बुने जा रहे हैं, हथकरघे से बने कोसे की साड़ियां मोठिया साड़ी की अनुकृति में बनने लगी हैं, पतले गमछे भी बुने जा रहे हैं जिसे लोग बड़े शौक़ से खरीद रहे हैं|

पारंपरिक लोक कला और संस्कृति से भी भारतीय संस्कृति की पहचान वैश्विक स्तर पर पहुंचती है,चाहे वह बस्तर आर्ट हो, सरगुजा के भित्तिचित्र, गोदना प्रिंट की सड़ियां, वारली (महाराष्ट्र),मणिपुरी लोक कलाएं, मेघालय के पारंपरिक वस्त्र और बैम्बू आर्ट ये ग्रामीण और आदिवासी समुदाय द्वारा ही आज तक बची हुई हैं ऐसे में उन्हें विलुप्त होने से बचाने के लिए शासन की ओर से भी संरक्षण और संवर्धन किये जाने की आवश्यकता है| सरगुजा में बिखरे हुए सभी बुनकरों को संगठित कर उन्हें सहकारी समितियों से जोड़ा जाना चाहिए, इससे ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर मिलेंगे|मोठिया साड़ी सहित अन्य लोक कलाओं के लिए बाजार की व्यवस्था की जानी चाहिए जहां से खरीददारों को सामान आसानी से मिल सके, इनका पर्याप्त विज्ञापन हो ताकि बुनकर और खरीददार दोनों प्रोत्साहित हों, पारंपरिक साड़ी के साथ, पारंपरिक प्रिंट वाले सलवार -कमीज़, चादर, पर्दे, सदरी आदि के कपड़े भी तैयार किये जा सकते हैं, साथ ही ऑनलाइन शॉपिंग की व्यवस्था भी इसके बाजारीकरण में लाभदायक होगा|

संदर्भः

1. छत्तीसगढ़ का जनजातीय इतिहास–हीरालाल शुक्ल,
2. भारतीय आदिवासीः उनकी संस्कृति और सामाजिक पृष्ठभूमि – डॉ. ललित प्रसाद विद्यार्थी,
3. **श्री लक्ष्मणदास महंत** तथा **श्री गुलाबदास** से प्राथमिक ऑकड़ों के आधार पर 2020